

जैन धर्म : भारतीयों की दृष्टि में

(अ) भारत की आध्यात्मिक विरासत*

स्वामी प्रभवानंद

(अनु०) डा० करुणा जैन, बम्बई

जैन और जैनधर्म शब्द संस्कृत की 'जि' (जीतना) धातु से व्युत्पन्न हैं। जैन वह है जो अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य प्रदान करने वाली परम विशुद्धता की प्राप्ति में बाधक तत्वों को जीतने में विश्वास करता है। यही तो भारत के अन्य धर्मों की शिक्षा है। यह कहा जाता है कि जैनधर्म वैदिक धर्म के समान ही प्राचीन है। इस युग में वर्धमान महावीर (परम आध्यात्मिक गुरु) का नाम जैनधर्म के साथ एकीकृत हो गया है। लेकिन ये जैनों के चौबीस तीर्थंकरों को श्रेणी के अन्तिम महापुरुष थे। महावीर और बुद्ध की समकालीनता तथा अहिंसा सिद्धान्त के महत्व के कारण प्रारंभ में पाश्चात्य विद्वानों की यह धारणा थी कि जैनधर्म बुद्धधर्म की शाखा है। लेकिन वास्तव में ये दोनों धर्म भिन्न-भिन्न हैं तथा इनका विकास समानान्तर रूप में हुआ है। महावीर इस धर्म के संस्थापक नहीं हैं, वे (वर्तमान) चौबीसों में अंतिम थे। उनके दो सौ वर्ष तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए हैं। ये भी ऐतिहासिक महापुरुष हैं।

परंपरा के अनुसार, जैनधर्म अनादि है। इसके सिद्धान्तों का क्रमिक उद्घाटन तीर्थंकरों ने किया था। इसका ब्रह्मांड विज्ञान अन्य भारतीय विचारधाराओं के समानान्तर है क्योंकि वह प्रगति (उत्सर्पिणी) और अवनति (अवसर्पिणी) के ब्रह्मांडी चक्रों की श्रेणी मानता है। वर्तमान युग अवसर्पिणी चक्र में चल रहा है। इस अवसर्पिणी चक्र में चौबीस तीर्थंकर समय-समय पर अवतरित हुए हैं। इनमें भगवान् ऋषभ प्रथम थे और महावीर अंतिम थे।

फलतः इस अवसर्पिणीकाल में ऋषभ जैनधर्म के प्रथम उद्घाटक थे। इनका नाम ऋग्वेद में आता है। इनको कहानी विष्णु और भागवत पुराणों में कही गई है। इन ग्रन्थों में इन्हें महासन्त बताया गया है।

इनके अन्तिम तीर्थंकर महावीर का जन्म ईसापूर्व छठवीं सदी के उत्तरार्ध में (आधुनिक) पटना से ३२ किमी० दूर वैशाली के पास बसाढ़ गाँव में हुआ था। इनके माता-पिता क्षत्रिय थे। उनका विवाह हुआ था और उनका एक पुत्री थी। बचपन से ही वे जिज्ञासु और विचारमग्न रहते थे। अट्ठाईस वर्ष की उम्र में उन्होंने संसार त्याग दिया। बारह वर्ष कठोर तपस्या और ध्यान के उपरान्त उन्हें पूर्ण ज्ञान (केवल) प्राप्त हुआ। उन्होंने जैन सिद्धान्तों का तीस वर्ष तक प्रचार किया और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

महावीर की जीवनी बुद्ध के समान है। यह किसी भी धर्म के प्रचार के लिये आवश्यक व्यक्तिवादी तत्व जैन धर्म के लिए भी प्रस्तुत करती है। महावीर ने अहिंसा के सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाया। इससे जैन धर्म के प्रचार में बड़ा योगदान मिला। उन्होंने समाज को गृहस्थ और साधुओं की दो श्रेणियों में विभाजित किया। अन्त में उन्होंने अपने धर्म के द्वार, जाति या लिंग के विचार के बिना, सभी लोगों के लिए खोल दिये।

*. स्वामी प्रभवानन्द, स्थिरचुल्ल हेरीटेज आव इण्डिया, रामकृष्ण मठ, मद्रास-४, १९७३ पेज १५५।

जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त सभी जैन सम्प्रदायों में समान हैं। इसवी सदी के प्रारम्भ होते होते जैन दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में बँट गये। इसका कारण साधुओं के जीवन और आचार के नियमों से सम्बन्धित कुछ मतभेद थे। इसमें मुख्य यह है कि दिगम्बर शरीर की चेतना से रहित होकर निर्बस्त्र या नग्न रहते थे जब कि श्वेताम्बर श्वेत वस्त्र पहनते थे।

अंग, पूर्व और प्रकरण ग्रन्थ इनके प्रमुख धर्म ग्रन्थ हैं। उत्तरवर्ती काल में भी संस्कृत और प्राकृत में अनेक धर्म ग्रन्थ लिखे गये। इनमें जैन धर्म और दर्शन की व्याख्याएँ हैं। भारत में लगभग पन्द्रह लाख जैन हैं। वे शान्तिप्रिय हैं। उनका हिन्दुओं से कोई टकराव नहीं है। फलतः सामान्यजन उन्हें हिन्दू ही मानते हैं।

जैन धर्म का लक्ष्य

जैन धर्म विश्व के आदि कर्ता को नहीं मानता। यह विश्व के आदि और अन्त को अविचारित और असंगत मानता है। विश्व में विद्यमान चेतन और अचेतन पदार्थ अनादि और अनन्त हैं। ब्रह्माण्ड की प्रकृति की व्याख्या के लिए दैववाद का आश्रय आवश्यक नहीं है। सृष्टि का बाह्य अस्तित्व ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता के लिये पर्याप्त है। ईश्वर-कर्तृत्व समर्थक तर्कों में जैनों को अनवस्था दोष दिखता है। जैनों के लिए सृष्टिकर्तृत्व की कोई समस्या ही नहीं है। इसके अध्यात्मवाद में न ही ईश्वर का स्थान है और न ही विश्व के आदिमान होने की कल्पना है। फिर भी, यह प्रत्येक आत्मा की पूर्णता और अनन्त शक्ति में विश्वास करता है। यह पूर्ण आत्मा ही परमात्मा है। इसकी हम पूजा और अर्चा करते हैं। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की क्षमता है। इस मान्यता के कारण ही जैन धर्म अनीश्वरवादी नहीं माना जा सकता। यह आत्मा की अनन्त शक्ति एवं उसको प्राप्त करने की क्षमता में विश्वास करता है।

जैनों का कथन है कि राग-द्वेषादि कषायों को दमित करने से कर्म-बन्ध टूट जाता है। इससे आत्मा में परम पवित्रता आती है। इससे उसमें अनन्त ज्ञान, सुख और वीर्य प्रकट होते हैं और वह परमात्मा हो जाता है। इस क्षमता के कारण भूतकाल में अनेक परमात्मा हो गये हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। एक श्रद्धालु जैन की प्रार्थना निम्न रहती है :

मोक्षमार्गस्य नेतारं, नेतारं कर्मभूषितां ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि जैन मानवी ईश्वर में विश्वास करते हैं। यह धारणा हिन्दुओं के अवतारों या ईसाइयों के ईश्वरपुत्र से काफी भिन्न है। उनकी पूजा का मुख्य उद्देश्य परमात्मा बनना है।

जैनों में जीवों की अनेक कोटियाँ होती हैं। जिन्होंने अनन्त चतुष्टय प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त कर लिया है, वे उच्चतम कोटि के जीव हैं—सिद्धपरमेष्ठी। इसके बाद अर्हन्त आते हैं। इन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है। ये मानवता की सेवा करना चाहते हैं। दयालु और स्नेही होते हैं। ये निर्वाण प्राप्त करने तक धर्मोपदेश देते हैं। ये विभिन्न युगों में मानव के हित के लिये अवतरित होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य तीन कोटियों में (आचार्य, उपाध्याय और साधु) शिक्षक या उपदेशक होते हैं। इन्होंने शरीर और आत्मा के भेद ज्ञान का किञ्चित् अनुभव कर लिया है। जीवों की इन पाँचों ही श्रेणियों का चरम लक्ष्य अनन्त चतुष्टय के विभिन्न चरण प्राप्त करना है।

जीवन का सर्वोत्तम विकास सिद्ध परमेष्ठियों में होता है। वे परम निरपेक्ष, निर्विकार, वीतराग और वीतकर्म होते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से, मोक्ष कर्मबंध तथा पुनर्जन्म से मुक्ति पाने की चरम स्थिति है। अन्य भारतीय विचार-धाराओं के अनुसार, जैन धर्म भी कर्मवाद और पुनर्जन्म मानता है। पर जैन कर्म को भौतिक पदार्थ मानते हैं जो

आत्मा के साथ जुड़ कर उसे सरागी संसार में बाँध देता है। यद्यपि कर्म भौतिक है, पर यह इतना सूक्ष्म है कि इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है। इसी कर्म के कारण जीव अनादि भूत से वर्तमान तक संसार में बना हुआ है। फलतः यद्यपि कर्मबन्ध अनादि है, पर इसे समाप्त किया जा सकता है। आत्मा तो मुक्त और शक्तिवान् है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव प्राप्त होते ही कर्म नष्ट हो जाते हैं। वेदान्ती भी अविद्या या अज्ञान को अनादि और सान्त मानते हैं।

आत्मा और कर्म का बन्ध किसी बाह्य कारण से नहीं होता। यह तो कर्म से ही होता है। जब आत्मा बाह्य जगत् के सम्पर्क में आता है, उसमें राग-द्वेष की इच्छाओं के समान अनेक मनोवैज्ञानिक आवेग उत्पन्न होते हैं। ये आत्मा के सहज लक्षणों को ढँक देते हैं और कर्मप्रवाह को प्रेरित करते हैं। बाद में यह उसे परिवेष्टित कर लेता है। आत्मा में सूक्ष्म कर्मों के प्रवाह को आस्रव कहते हैं। यह जैनों का एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है। यह कर्मबन्ध का पहला चरण है। इसका दूसरा चरण कर्मबन्ध स्वतः है, जिसे बन्ध कहते हैं। इसमें कर्म के अणु आत्मा के कार्माण शरीर का निर्माण करते हैं। इससे आत्मा कर्म-पूरित हो जाता है। जीव का भौतिक शरीर मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है, पर कार्माण शरीर बना रहता है। यह कार्माण शरीर हिन्दुओं के सूक्ष्म शरीर का समरूप है। यह भी निर्वाण-प्राप्ति के पूर्व तक रहता है।

संवर या संयम से कर्म से मुक्ति होती है। संयम के अभ्यास से नये कर्मों का आस्रव रुक जाता है। इससे नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन की प्रेरणा मिलती है। यह पूर्व कर्मों को निर्झरित करता है। निर्जरा के समय पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है और प्राथमिक मुक्ति प्राप्त होती है। पूर्ण मुक्ति के लिये दो चरण बहुत आवश्यक हैं। प्रथम चरण अर्हत् पद की प्राप्ति है। इसमें कर्म-मुक्त ज्ञानी जीव संसार में बना रहता है, वह वीतरागी होकर मानवता की सक्रिय रूप में सेवा करता है। यह हिन्दुओं की जीवन्मुक्त दशा का प्रतिरूप है। द्वितीय चरण में जीव संसार छोड़ देता है। इस दशा में वह अकर्म रहता है, पूर्ण रहता है। इस दशा को सिद्ध दशा कहते हैं। यह अनन्त ज्ञान और शान्ति का निलय है।

मोक्ष-प्राप्ति के उपाय

मोक्ष सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की त्रितली से प्राप्त होता है। ईसाइयों की विश्वास, उपदेश एवं प्रवृत्ति की त्रयी इसी का एक रूप है। ये तीनों ही एक इकाई हैं। सम्यक् दर्शन जैनों के उपदेशों में दृढ़ विश्वास का प्रतीक है। सम्यक् ज्ञान जैन सिद्धान्तों का समुचित परिज्ञान है। सम्यक् चारित्र जैन सिद्धान्तों के अनुरूप जीवन यापन की व्यावहारिक विधि है। इनमें सम्यक् दर्शन नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन मूल्यों की आधार शिला है। इसके लिये अज्ञान, अंधविश्वास या मूढ़ताओं से मुक्त होना आवश्यक है। पवित्र नदियों में स्नान करना, काल्पनिक देवताओं की पूजा तथा अनेक प्रकार के यज्ञ यागादि करना आदि इसके उदाहरण हैं। इनके साथ ही, सम्यक् दर्शन के लिये निरभिमानता भी आवश्यक है। सम्यक् दर्शन से सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वतः स्फूर्त होते हैं।

सम्यक् चारित्र में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच व्रत समाहित होते हैं। जब ये सीमारहित होते हैं, तब महाव्रत कहलाते हैं। इनका पालन साधु करते हैं। इस प्रकार जैन धर्म में साधु और सामान्य जन के आचार में अन्तर माना गया है।

अन्य भारतीय पद्धतियों के समान ही, जैन धर्म में भी मनुष्य जन्म को आत्म-पूर्णता का साधन माना गया है। स्वर्ग के देव और देवियों को भी, मोक्ष प्राप्ति के लिये, मनुष्य जन्म लेना अनिवार्य है। इसीलिये मनुष्य योनि में जन्म लेना पुण्याशीर्वाद माना जाता है।

ई० डब्लू० होपकिंस ने ईश्वर विरोध, मानव पूजन और जीव संरक्षण के जैन सिद्धान्तों पर अपनी पुस्तक में व्यंग्य किया है। इस प्रकार तो किसी भी धर्म के विषय में कहा जा सकता है। जैन धर्म ने पराब्रह्माण्डीय एवं

सर्वव्यापी व्यक्तित्व का निषेध किया है लेकिन यह अमर आत्म एवं परमात्मशक्ति को मानता है। यह पूर्ण दिव्य पुरुषों, सन्तों, महापुरुषों को मान्यता देता है। महात्मा ईसा भी इसी कोटि के सन्त हैं। जैनों का अहिंसा सिद्धान्त सभी जीवों पर लागू होता है। यह ईसा के दश उपदेशों में से एक है। पश्चिम में इसे पर्याप्त अपूर्णता के साथ ही माना जाता है।

सभी भारतीय धर्मों के अनुसार, जैन धर्म भी स्वयं को सर्वोच्च धर्म नहीं मानता। इसके अनुसार, अन्य धर्म वाले भी मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। किसी भी एक सिद्धान्त में पूर्णता नहीं आ सकती, अतः हमें एक-दूसरे के मतों के प्रति सहिष्णु बनना चाहिये।

जैन तत्त्व विद्या

जैनों के जीवन से सम्बन्धित दृष्टिकोण में ही जैन तत्त्व विद्या का कठिन विषय समाहित होता है। इसके अनुसार, संसार के वस्तु तत्त्व-द्रव्य अनादि और अनन्त हैं, उनमें उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य की त्रयी युगपत् होती है। यह अविरत जन्म और मृत्यु के दौरान अपना स्थायित्व एवं व्यक्तित्व बनाये रखता है। गुण और पर्यायों के परिवर्तन के दौरान भी उसकी सत्ता अमिट रहती है। सोने के अनेक आभूषण बनते रहते हैं, पर सोना सोना ही बना रहता है। एक पर्याय नष्ट होती है, दूसरी उत्पन्न होती है, पर मूल तत्त्व यथावत् बना रहता है।

पदार्थ और उसके गुण एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते। यद्यपि दृष्टा के मन में इनके विषय में विभेदक ज्ञान है, फिर भी ये एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। इसे ही भेद-अभेद वाद कहते हैं। यह न्याय-वैशेषिक मत के विषयसि में है। यह इनमें भेद मानता है।

जैनों के अनुसार, ब्रह्मांड की संरचना में छह अनादि और अनन्त द्रव्य हैं। जीव, अजीव, धर्म (गति-माध्यम), अधर्म (स्थिति माध्यम) और आकाश नामक प्रथम पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं। इनके अनेक प्रदेश (अवगाहना) होते हैं। इनमें एक-विमी काल को जोड़ने पर जैनों के जड़-चेतन जगत में छह द्रव्य माने गये हैं। ये द्रव्य दो कोटियों में आते हैं—जीव (चेतन) और अजीव (अचेतन)। इनमें चेतना के अस्तित्व व अभाव के कारण भेद होता है।

जीव जीवन और चेतना से सम्बन्धित है। चेतना भौतिक गुण नहीं है, यह तो आत्मा का स्वलक्षण है। यह पदार्थ-निरपेक्ष गुण है। वस्तुतः आकाश के उस पार आत्मा स्वतन्त्ररूप में रह सकता है। आत्मार्थे अनन्त हैं, अनादि हैं। संसार में जन्म और मृत्यु आत्मा के गुण नहीं हैं। ये कर्म-बन्ध की दशा की पर्यायें हैं। इस जड़-चेतन जगत में कर्म-बन्ध के कारण ही जीव शरीर धारण करता है। इस शरीर का माप शरीरधारी के अनुरूप होता है।

इस विश्व में चार प्रकार के जीवात्मा होते हैं—पहले स्वर्गों में रहनेवाले देव होते हैं। विकास के क्रम में ये मानव से उच्चतर होते हैं। फिर भी, ये स-शरीरी होते हैं। इनका भी जन्म-मरण होता है। स्वर्ग ऐसे स्थान माने गये हैं जहाँ मनुष्य जन्म लेकर अपने शुभ कर्मों के फलों का आनन्द लेते हैं। देवों को निर्वाण प्राप्ति के लिये मनुष्य जन्म लेना ही पड़ता है। जीवों की दूसरी श्रेणी मनुष्यों की है। इसके बाद तिर्यचों की श्रेणी (पशु और वनस्पति) आती है। चौथी श्रेणी के जीव नारकी कहलाते हैं। ये ब्रह्मांड के निचले भाग में रहते हैं। हम नरक और स्वर्ग की निश्चित स्थिति नहीं बता सकते। लेकिन जैन और हिन्दू यह मानते हैं कि मनुष्य मृत्यु के बाद इन स्थानों में जन्म लेता है। शुभ कर्मों मनुष्य देवगति में तथा अशुभ कर्मों नरक गति में जन्म लेते हैं। आयु पूर्ण होने पर वे पुनः मर्त्यलोक में आते हैं।

चारों श्रेणियों के जीव अपने वर्तमान या विगत जीवन में किये गये कर्मों के अनुसार सुखी या दुःखी होते हैं। वे अपने सहज स्वभाव के अज्ञान से जन्म और मृत्यु के चक्र में रहते हैं।

कर्म बन्ध से मुक्त होने पर मनुष्य मोक्ष पाता है। जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। वह वीतरागी होकर अनन्त चतुष्टय से परिपूर्ण रहता है। मोक्ष प्राप्त करनेवाले शुद्ध जीव को सिद्ध कहते हैं। इसके विपर्यास में, अन्य सभी जीव संसारी और सशरीरी होते हैं। वे कर्म-सहचरित होते हैं। इनका वर्गीकरण ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर किया जाता है।

निम्नतम स्तर के जीवों में केवल एक ज्ञानेन्द्रिय होती है। ये जीव वृक्ष, पौधे आदि वनस्पतियों के रूप में होते हैं। इनमें स्पर्श इन्द्रिय होती है। ये सूक्ष्म कोटि के भी होते हैं और वनस्पतियों से कुछ उच्चतर श्रेणी के होते हैं। ये पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायु में होते हैं। इन सूक्ष्म जीवों की मान्यता के इस सिद्धान्त की प्रायः सर्वात्मवाद के रूप में मिथ्या व्याख्या की जाती है। इसके अनुसार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु स्वयं सजीव होते हैं। इस मिथ्या व्याख्या के लिये कोई वास्तविक आधार नहीं है। कृमि कुल वनस्पतियों से उच्चतर कोटि का होता है। इनके स्पर्श और रसन—ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। चींटी चौथी श्रेणी को निरूपित करती है। इसमें स्पर्श, रसन और घ्राण-तीन इन्द्रियाँ होती हैं। इसी श्रेणी की मधुमक्खी में चार इन्द्रियाँ होती हैं। उच्चतर जीवों में पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। जीवों की सर्वोच्च श्रेणी पर मनुष्य आता है जिसमें पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त मस्तिष्क या मन भी होता है। यह ध्यान में रखना चाहिये कि जीवों की इन्द्रियाँ या शरीर उसके जीव-गुण नहीं हैं। जीवगुण तो केवल चेतना है। निम्न श्रेणी के जीवों में यह गुण सुषुप्त रहता है। उच्चतर श्रेणियों के जीवों में विकसित होते हुए यह शुद्धात्माओं में पूर्ण अभिव्यक्ति पाता है।

यह विश्व जीव और अजीवों का समुदाय है। अजीव अक्रिय एवं अचेतन होता है। मूल अजीव भी अनादि और अनन्त है। यह पुद्गल, धर्म (गति माध्यम), अधर्म (स्थिति माध्यम), आकाश और काल के भेद से पाँच प्रकार का है। इनमें पुद्गल भौतिक है, काल अप्रदेशी है, अन्य सभी अमूर्त है।

पुद्गल या पदार्थों में रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि इन्द्रिय गोचर गुण पाये जाते हैं। यह ज्ञाता जीव से स्वतन्त्ररूप में पाया जाता है। यह विश्व का भौतिक आधार है। यह परमाणुओं से बना होता है। परमाणु निरवयवी, आदि-मध्यान्त रहित, अनादि, अनन्त एवं चरम होता है। यह पुद्गल का अल्पतम आधार है, अनाकार है। दो या अधिक परमाणुओं के संयोग को स्कन्ध कहते हैं। विश्व को महास्कन्ध कहते हैं। प्राथमिक परमाणुओं में कोई भेद नहीं होता, पर अनेक विविध संयोगों से भिन्न-भिन्न पदार्थ बनते हैं। इस आधार पर जैन तत्त्व विद्या के परमाणु न्याय-वैशेषिकों से भिन्न है। ये उतने परमाणु मानते हैं जितने मूल तत्व होते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। परमाणुओं के संयोग, वियोग एवं क्रियायें अमूर्त आकाश, धर्म और अधर्म द्रव्यों के उदासीन कारण से होते हैं। आकाश अनन्त है एवं वास्तविक है। यह स्वयं को तथा अन्य द्रव्यों को अवगाहित करता है।

धर्म और अधर्म द्रव्य जैन दर्शन की विशिष्ट मान्यता है। गति और स्थिति जीव और पुद्गलों में ही पाई जाती है। ये दोनों भी, क्षमता होने पर भी, इन द्रव्यों के कारण ही विश्व में व्याप्त रहते हैं। ये द्रव्य उदासीन कारण होते हुए भी गति एवं स्थिति के लिये अनिवार्य हैं। धर्म के लिये जल में मछली की गति का और अधर्म के लिये पक्षी की स्थिति का उदाहरण दिया जाता है। दोनों ही द्रव्य विश्व के व्यवस्थित संघटन के लिये आवश्यक माने गये हैं।

काल द्रव्य भी एक वास्तविकता है। यह अप्रदेशी है। यह विकास और प्रत्यावर्तन, उत्पाद और विनाश के लिए अनिवार्य है। ये प्रक्रियायें विश्व-जीवन की मूल हैं। काल के बिना इन प्रक्रियाओं के विषय में सोचा भी नहीं जा सकता। जीव और उपरोक्त पाँच अजीव द्रव्य मिलकर जैन तत्त्व विद्या के छह द्रव्य होते हैं। जैन तत्त्वों और पदार्थों के वर्गीकरण की समीक्षा आवश्यक है। इस वर्गीकरण में सात तत्त्व, नौ पदार्थ, छह द्रव्य और दृष्टिकोण तथा उद्देश्य पर आधारित दो अन्य तत्त्वों (ए० चक्रवर्ती) का समाहरण है। इस जटिल विषय को सारणी के माध्यम से समझने में सरलता होगी।

तत्त्व (चरम) २ : जीव, अजीव

द्रव्य ६ : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल (पाँच अजीव), इनमें प्रथम पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं। काल इनमें भिन्न है।

तत्त्व ७ : जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष

पदार्थ ९ : जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप

जैनों का तर्कशास्त्र एवं ज्ञान का सिद्धान्त

जीव की प्रकृति शुद्ध चैतन्यरूप है, अतः उसके अनंतज्ञान भी सहज है। लेकिन यह ज्ञान कर्म-जनित अज्ञान से ढंका रहता है। कर्मों के प्रभाव से जीवों में केवल सीमित ज्ञान होता है। जैसे-जैसे कर्म-बन्ध कम होते जाते हैं, अनंत ज्ञान रूप सहज स्वभाव प्रकट होने लगता है। इच्छायाँ, राग-द्वेष, अहंभाव आदि ज्ञान के बाधक हैं। संयम से सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञान के पाँच चरण होते हैं, मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल। मति सामान्य ज्ञान है। इसमें इन्द्रियज्ञान, स्मृति व अनुमान समाहित हैं। इसमें इन्द्रिय और मन की सहायता से ज्ञान होता है, अतः इसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। यह पारिभाषिकता पाश्चात्य मनोविज्ञान की धारणा के विपरीत है। इसके अनुसार, इन्द्रियों (तथा मन) के माध्यम से प्राप्त ज्ञान प्रत्यक्ष माना जाता है। श्रुत ज्ञान शास्त्रज्ञान है। यह भी परोक्ष माना जाता है। यह ज्ञान स्वयं प्राप्त नहीं किया गया है। अवधि ज्ञान अतीन्द्रिय दृष्टि एवं श्रवण के मनोवैज्ञानिक सामर्थ्य से प्राप्त ज्ञान को कहते हैं। यह ज्ञान इन्द्रियों के साक्षात् संपर्क पर निर्भर नहीं करता, अतः इसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। मनःपर्यय ज्ञान दूसरों के मन को जानने की प्रक्रिया है। जब मनुष्य अज्ञान से पूर्णतः मुक्त होकर शुद्ध चैतन्यमय हो जाता है, तब जो पूर्णज्ञान होता है, उसे केवल ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान प्रत्यक्ष और तत्काल होता है। यह इन्द्रिय और मन पर निर्भर नहीं करता। यह अनुभवगम्य है। इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। केवल ज्ञान उपनिषदों के भावातीत ज्ञान एवं बौद्धों के निर्वाण के समकक्ष है।

सामान्य मनुष्य को पाँच ज्ञानों में से प्रथम दो—मति और श्रुत होते हैं। संयमी और ज्ञानियों को चार ज्ञान तक हो सकते हैं। लेकिन केवलज्ञान तो परमविशुद्ध चैतन्ययुक्त जीव के ही संभव है।

जीव और अजीव—दोनों वास्तविक हैं। अपने अस्तित्व के लिये ये एक दूसरे पर निर्भर नहीं हैं। बाह्य पदार्थों का अस्तित्व जीवाधीन नहीं है। इस प्रकार जैनधर्म को बहुत्ववादी धर्म माना जा सकता है। यह जीव और अजीव—दोनों को अनादि, अनंत, स्वाधीन और बहुसंख्यक मानता है।

जैन तत्त्वविद्या का विवरण जैन न्याय के उस सिद्धान्त के निरूपण के बिना अधूरा ही कहा जायगा जिसको पाश्चात्य भौतिकी के सापेक्षता सिद्धान्त का पूर्वरूप माना जा सकता है। इसके अनुसार, एक ही वस्तु के विषय में सकारात्मक और नकारात्मक निरूपण किये जा सकते हैं। इसे अस्ति-नास्तिवाद कह सकते हैं। इसे सप्तभंगा कहते हैं। इस मत की परीक्षा करने पर इसको आभासी विसंगति में तर्कसंगतता के सकेत मिलते हैं। किसी वस्तु के विषय में सकारात्मक निरूपण के लिये चार दशायें आवश्यक हैं—स्वगत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (परिणमन)। इसी प्रकार उसके नकारात्मक निरूपण में भी चार दशायें आवश्यक हैं—परद्रव्य, परक्षेत्र, पर-काल, पर-भाव। इसे हम एक दृष्टान्त से समझें। यदि हम सोने के बने आभूषण का वर्णन करना चाहें, तो उसे निम्नरूपों में किया जा सकता है :

(i) द्रव्य

यह आभूषण सोने का बना है।

यह आभूषण किसी अन्य धातु का बना नहीं है।

- (ii) क्षेत्र यह आभूषण वस्त्र में रखा है ।
यह आभूषण आलमारी में नहीं रखा है ।
- (iii) काल/स्थिति यह आभूषण आज बना है ।
यह आभूषण कल नहीं बना था ।
- (iv) भाव/परिणमन यह आभूषण गोल है ।
यह आभूषण आयताकार नहीं है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर एक ही वस्तु के विषय में सकारात्मक और नकारात्मक निरूपण किये जा सकते हैं। हाँ, एक ही दृष्टिकोण से ऐसा करना असंगत होगा। यह सिद्धान्त अवास्तविक वस्तु पर लागू नहीं होता। जैनधर्म के अनुसार, किसी भी वस्तु के विषय में निरपेक्ष निरूपण संभव नहीं है। वास्तविकता इसे स्वीकार नहीं करती। यह उत्पाद, व्यय, ध्रुव्यात्मक है। इसलिए जैनदर्शन अनेकांतवादी माना जाता है—विविधता में एकरूपता। इसी धारणा से बहुवादी विश्व का सामान्य सिद्धान्त विकसित हुआ है।

(ब) खुशवंत सिंह के भारत के विषय में विचार*

डा० के० जैन,

मिड, म० प्र०

भारत में जैनों और बौद्धों की संख्या अधिक नहीं है। जो है भी, उन्हें हिन्दू ही माना जाता है। इनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व है क्योंकि ये ब्राह्मणवादी हिन्दुओं के विरोध में घटित आन्दोलनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्होंने उत्तरवर्ती हिन्दुओं को प्रभावित किया है।

जैनधर्म

जैन शब्द 'जिन' धातु (जीतना) से व्युत्पन्न हुआ है, अतः जैन वह है जिसने स्वयं (के दोषों) पर विजय पाई हो। जैनों का विश्वास है कि उनके धर्म का विकास चौबीस तीर्थंकरों (नदी का घाट पार करने वाले) ने किया है। इनमें ऋषभनाथ, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि ने इनके सिद्धान्तों को व्यवस्थित किया है। इनके अधिकांश तीर्थंकर चरित्र पौराणिक हैं। लेकिन इनके तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ (८७२-७७२ ई० पू०) और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर (५९९-५२७ ई० पू०) के विषय में विश्वसनीय ऐतिहासिक साक्ष्य पाये जाते हैं। यह विश्वास करने के कारण है कि जैनधर्म का प्रारंभिक विकास ब्राह्मणवादी हिन्दुधर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। जैनों ने अन्य धर्मों से भी प्रेरणा ग्रहण की। इनमें पारसीधर्म प्रमुख है जो उसी समय ईरान में विकसित हो रहा था। जैन पुराणों का आवर्ती लक्षण यह है कि इन सभी में पीढ़ी-दर-पीढ़ी भलाई और बुराई के बीच लगातार युद्ध दिखाया गया है। कायन और ऐबल (Cain and Abel) के बीच भ्रातृघाती सामन्तप्रथा का द्वन्द्व दिखाया गया है। प्रकाश और अंधकार के बलों के बीच युद्ध बताया गया है। जरथुस्त के उपदेशों का केन्द्र बिन्दु भी अहुर मज्दा और अंगु मेन्यु के बीच युद्ध ही रहा है। पारसी पिशाच को कंधों पर बने हुए सांप के रूप में निरूपित करते हैं। यही बात जैन प्रतिमाओं (पार्श्वनाथ) में भी पाई जाती है। यद्यपि जैन विद्वान् वैदिक युग से ही जैनधर्म की उत्पत्ति मानते हैं, पर अधिकांश सामान्यजन महावीर को ही इसका संस्थापक मानते हैं।

* संपादक राहुल सिंह, आइ० बी० एच० पब्लिशिंग कंपनी, बम्बई, १९८२ पेज ५६-५७।

वर्धमान महावीर का जन्म पटना के उत्तर में स्थित कुंडग्राम में ५९९ ई० पू० में हुआ था। वे एक जागीरदार के द्वितीयपुत्र थे और विलासी वातावरण में इनका लालन-पालन हुआ। जैन परिगणन प्रिय होते हैं। तदनुसार, महावीर का पालन पाँच सेविकायें (नर्स) करती थी और वह पाँच प्रकार के सुख भोगते थे। युवावस्था में उनका विवाह हुआ। वे एक पुत्री के पिता बने। लेकिन पुत्री, पत्नी एवं राजकाज में उनका मन नहीं लगता था। माता-पिता की (संभवतः आत्महत्या से) मृत्यु होने पर उसने अपने बड़े भाई से सन्यास लेने की आज्ञा माँगी। इस समय उनकी आयु तीस वर्ष की थी। बारह वर्ष तक उन्होंने ध्यान किया, उपवास किये। ध्यान के समय वे ऐसा आसन लगाते थे जिसमें एड़ी जुड़ी रहें और ऊपर रहे, मस्तिष्क नीचा रहे और सूर्य के सामने रहे। पूर्ण ध्यान की अवस्था में उन्हें केवलज्ञान या सर्वज्ञता प्राप्त हुई। वह निर्ग्रन्थ हो गये।

महावीर ने वस्त्रों का त्याग किया। उन्होंने नग्न होकर तीस वर्ष तक स्थान-स्थान पर बिहार किया। वे किसी से बोलते नहीं थे। कहीं भी एक रात से ज्यादा नहीं ठहरते थे। वह कच्चा (या उबाला) भोजन करते थे और छना पानी पीते थे। वे कृमियों को शरीर पर रहने देते थे। वे अपने साथ एक पीछी रखते थे जिससे चलते समय मार्ग में जीवों को हानि न पहुँचे। जनता प्रायः उन पर व्यंग्य कसती थी और उन्हें कष्ट देती थी। लेकिन वे किसी से कुछ नहीं कहते थे। उनका निर्वाण ५२७ ई० पू० में हुआ। जैनो के अनुसार वे बहत्तर वर्ष की उम्र में जन्म, वृद्धावस्था एवं मृत्यु के बंधनों से मुक्त हुए।

अपने पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के समान महावीर ने भी जैन सिद्धान्तों का वर्गीकरण और परिगणन किया है। इस वर्गीकरण की कुछ प्राथमिकतायें यहाँ दी जा रही हैं। नौ प्रकार के पुण्य कार्य होते हैं, अठारह प्रकार की पापक्रियायें होती हैं, पापमय कार्यों के दण्ड के बयासी प्रकार हैं। ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल के भेद से पाँच प्रकार का है। इस सिद्धान्त के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। उनका जीव-शक्ति सिद्धान्त धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

महावीर ने बताया कि सभी सजीव एवं निर्जीव पदार्थों में जीव होता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं वनस्पति सभी में जीवन होता है। किसी का जीवन लेना सर्वाधिक घृणित कार्य है। निर्मम तर्क के आधार पर एक जैन ग्रन्थ में कहा है, “जो बत्ती जलाता है, वह जीवहत्या करता है। जो इसे बुझाता है, वह अग्नि की हत्या करता है।” जैन हाइलोजोज्म का यह एक चरम उदाहरण है।

जैनो में कर्म या क्रिया के सत्तावन भेद हैं। इनकी प्रकृति कणमय होती है। ये जीव में प्रवाहित होते हैं और उसे भारी बनाते हैं। यह ठीक उसी प्रकार मानना चाहिये जैसे शरीर में संचित यूरिक अम्ल गठिया रोग उत्पन्न करता है और बोरे में बालू भरने से वह भारी हो जाता है। आत्मा या जीव एक बुलबुले या गुब्बारे के समान है जिसमें ऊर्ध्वगामी वृत्ति होती है। कर्म के कारण यह भारी हो जाता है। कर्म न केवल हमारे वर्तमान सांसारिक अस्तित्व या रूप को प्रभावित करता है, अपितु यह हमें जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्र में भी फँसाये रखता है। मानव जीवन का उद्देश्य संवर के द्वारा कर्मों का आखिरी रोकना तथा तप के द्वारा एकत्र कर्मों की निर्जरा करना है। यह निर्जरा तब पूरी मानी जाती है जब कर्मबोज पूर्णतः नष्ट हो जाता है।

जैन निष्क्रिय धर्म नहीं है। यह ऐसी क्रियाओं की अनुशंसा करता है जिनसे मानव के भूतकालीन कर्म और इच्छायें समाप्त हो जावें। जैन ग्रन्थों में लिखा है, “तुम अपने ही मित्र हो, तुम अपने से भिन्न किसी अन्य मित्र को क्यों खोज रहे हो? जीव स्वयं का निर्माता है। यह सुख-दुःख का कर्ता है, अपने भले-बुरे की दशायें निमित्त करता है, यह नर्क की दुःख-नदी का निर्माण करता है।” इस दृष्टि को ही क्रियावाद का सिद्धान्त कहते हैं।

मुक्ति का मार्ग त्रिरत्नमयी है : सम्यक् दर्शन या श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्य। सम्यक्-श्रद्धा में निम्न पाँच सिद्धान्त वर्णित हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

जैन जब साधुवृत्ति ग्रहण करता है, तो निम्न शपथ लेता है “मैं श्रमण बनूँगा। मैं घर, सम्पत्ति, पुत्र, पशु आदि कुछ नहीं रखूँगा। मैं वह खाऊँगा जो दूसरे लोग मुझे देंगे। मैं पाप कार्य नहीं करूँगा।”

इस आधार पर वर्तमान और भावी जीवन कर्म-बन्ध से मुक्त होता है। जीव परमात्मा में विलीन हो जाता है। यह समुद्र में ओस बिन्दुओं का गलन है। जैन प्रयत्नों का सर्वोच्च ध्येय परमात्मा में विलीन होना है। जैनों का स्वर्ग शांत, सुरक्षित तथा सुखी क्षेत्र है। वहाँ बुढ़ापा, दुख, रोग व मृत्यु नहीं होते।

जैन मत में ईश्वर को कोई स्थान नहीं है। इसके विपर्यास में, जैन पूर्ण विकसित मनुष्यों में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार निर्वाण केवल मानव योनि से ही हो सकता है। इसी प्रकार, जैन जाति प्रथा तथा ब्राह्मणवाद के पोषक वेदों को भी मान्यता नहीं देते।

जैन दो वर्गों में विभक्त हो गये हैं : दिगम्बर और श्वेताम्बर। दिगम्बर नग्न रहते हैं, आगमों को मान्यता नहीं देते और महिलाओं को साधुपद के अधिकारी नहीं मानते। जलवायु सम्बन्धी प्रत्यक्ष कारणों से श्वेताम्बर उत्तर भारत के शीत क्षेत्रों में और दिगम्बर दक्षिण भारत के उष्ण क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इनका एक सम्प्रदाय और है—स्थानकवासी। ये न मूर्ति पूजते हैं, न प्रार्थना करते हैं। इनके अनुसार, आत्मा सभी जगह मौजूद रहती है।

हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि विभिन्न युगों में जैनों की स्थिति क्या थी? लेकिन इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि उन्होंने अनेक विचारकों को प्रभावित किया है। उत्तर भारत में उन्हें चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्याश्रय मिला। दक्षिण भारत में उन्हें हौयसलों का संरक्षण मिला। ये सदैव सापेक्षतः धनी रहे और इन्होंने कलाओं को संरक्षण दिया। इस देश में उनके कुछ मन्दिर सबसे सुन्दर माने जाते हैं। जैन स्थापत्य कला के कुछ सुन्दर उदाहरणों के रूप में बिहार में पारसनाथ पहाड़ी, गिरनार, पालोताना में शत्रुंजय, राणकपुर और आबू पर्वत पर दिलवाड़ा मन्दिर के नाम लिये जा सकते हैं। जैन मूर्तियाँ हिन्दू और बौद्ध मूर्तियों से भिन्न होती हैं। जैनों का कहना है “भक्त के लिए मूर्ति दर्पण के सामने कमल के समान होती है। मानव का मस्तिष्क उसके समक्ष विद्यमान वस्तु से प्रभावित एवं रंजित होता है। इसलिए जैन प्रतिमाएँ विभावहीन और शान्त होती हैं। जैन साधु कहते हैं,” किसी सुन्दर महिला के नग्न शव पर कामुक, कुत्ता एवं संत की प्रतिक्रियाओं पर विचार करो। कामुक उससे भोग करना चाहेगा, कुत्ता उसे खाना चाहेगा और संत उसकी आत्मा की सद्गति चाहेगा। इसलिए तुम्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि ध्यान करते समय तुम जो भी देखो, वह ध्यान के उद्देश्यों के अनुरूप होना चाहिये।”

मध्ययुग में हिन्दुओं के पुनर्जागरण एवं शैवों द्वारा अन्य मतावलम्बियों को पीड़ित करने की प्रक्रिया का जैनों पर बहुत प्रभाव पड़ा। इससे जैनों को बड़ी हानि हुई क्योंकि वे हिन्दुओं से सर्वाधिक सम्बन्धित थे। इनका हिन्दुओं में इक्तरफा विवाह भी होता था। स्वयं को संगठित कर अस्तित्व बनाये रखने के जैनों के प्रयत्नों को बहुत सफलता नहीं मिली। १८९३ में अखिल भारतीय जैन सम्मेलन का गठन किया गया। इसके छह वर्ष बाद १८९९ में जैन युवा परिषद् गठित की गई जो १९१० में भारत जैन महामण्डल के रूप में परिणत हुई। इसका उद्देश्य है—मैत्री भाव से सबको जीता जा सकता है।

भारत में जैनों का प्रभाव उनकी सापेक्ष सम्पन्नता के कारण है। डालमिया, साराभाई, बालचन्द, कस्तूरभाई लालभाई, साहू जैन आदि भारत के बड़े-बड़े औद्योगिक घराने जैन हैं। इनकी साक्षरता भी उच्च है। महात्मा गांधी जैनों के अहिंसा सिद्धान्त से बड़े प्रभावित हुए थे। उन्होंने इनके नैतिक और व्यक्तिगत सिद्धान्त को राष्ट्रीय एवं राजनीतिक रूप देकर आगे बढ़ाया।

